आलू की आँख

राजेश जोशी

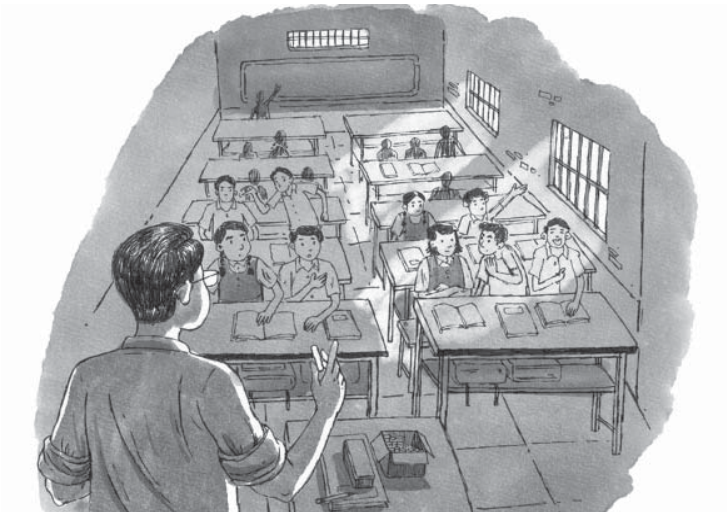

नवीं क्लास, पहला दिन, और पहला घण्टा। रातभर की बोरियत के बाद ताज़ी-टटकी सुबह थी। मैंने कहा, सुबह तुम ताज़ी ककड़ियों की तरह हो, थोड़ा-सा नमक मिल जाए तो मज़ा आ जाए। पर तभी अनुभवहीन और कम उम्र, आदर्शवादजी ने कहीं भीतर ठुमककर कहा 'तुम्हें एक आदर्श अध्यापक होना है, तुम्हें ही फैलाना है इन गाँवों में शिक्षा का प्रकाश'। अहा, शिक्षा का उजाला! महान नागरिक पैदा होने को मेरी बाट जोह रहे थे। आलू की इसी धरती से पैदा होगा कल का महापुरुष, उन तमाम समाजशास्त्रियों को धत्ता दिखाता, जो ससुरे कहते हैं - 'आलू खाने वाले क्रान्ति नहीं कर सकते'। मैं लबालब हो रहा था।

क्लास में सिर्फ बारह लड़के थे। पीछे की बैंच पर दो आदमीनुमा लड़के बैठे थे। मैंने पूछा, "आप भी नवीं में हैं?" "नहीं सर, हम तो पढ़ाई छोड़ चुके, हम तो बस आपको देखने आए थे," दोनों ने कहा। "मेरी नाक थोड़ी मोटी है, ज़रा गौर से देखिएगा," मैंने कहा, तो सब लड़के हँसने लगे। "अच्छा सर, चलें," कहकर वे जाने लगे तो मैंने पूछ डाला, "आप करते

क्या हैं?" "दूध का काम है," कहकर वे निकल गए। पाँच घण्टे लेने थे। दो लग्गत में, तीसरा खाली। खाली घण्टे में यादव प्रकट हुआ, बोला, "तुम्हारे पाँच पीरियड लगा दिए, बाकी के पास सिर्फ चार हैं।" उसकी क्लास थी, सूचना-भर देकर वह बढ़ लिया।

बीच की छुट्टी होते ही मैंने सिगरेट जलाई और बाहर निकल आया। साथ-साथ यादव, पुराणिक, वर्मा जी, और जैन साहब भी आ गए। सब चाय पीने जा रहे थे, मुझे भी वे साथ ले गए। उनकी बातें चल रही थीं, मेरे लिए सारी बातें उलझी रस्सियाँ थीं। मुझे किसकी खटिया बुननी थी, जो मैं सुलझाता? मेरे सिर्फ इतना पल्ले पड़ा कि मास्टरों के दो गुट हैं, प्राचार्य कुछ लोगों का तबादला करना चाहता है, पर डी. एस.ई. उन्हें पास नहीं फटकने दे रहा है। चाय की दूकान से उठे, तो उन्हें मेरा खयाल आया, बोले, "आप प्राचार्य से कहिए, आप ही को पाँच पीरियड क्यों दिए हैं।" वे मुझे गोट बनाना चाहते थे, जबकि मुझे अभी शतरंज के बारे में कुछ भी पता नहीं था।

वापस लौटा तो त्रिपाठीजी ने आँखें तरेरकर देखा और शर्मा के कान में कुछ कहा। शर्मा का रंग पक्का था, पक्का आबनूसी। वह बत्तीसी फैलाकर बोला, "हम तो चाय के लिए आपका इन्तज़ार कर रहे थे, आप तो अकेले-अकेले पी आए।" मैंने कहा, "और पी लेते हैं," पर वे बात उड़ा गए। उनकी बातों से पता पड़ा,

गुट दो नहीं, तीन थे। प्राचार्य का गुट अलग था। संस्कृत वाले पण्डितजी, बड़े बाबू, और गणित वाले ठाकुर साहब समेत चारों का, चौगुटा था। तिलस्म-में-तिलस्म था। मैं नया था तो सब मुझे अपने साथ खींचने में लगे थे। त्रिपाठीजी ने रहस्य समझाते हुए कहा, "इन लोगों के चक्कर में मत पड़ जाइएगा, ये सब गोलमाल में फँसे हैं, आपको भी फँसा देंगे।" मैं सोच रहा था, अब प्राचार्य का नम्बर है, पर घण्टा बज गया तो मुझे लगा कि बच गया।

सब्र किसी को नहीं था, उन्हें किसी मीठे फल की चाह नहीं थी। उन्हें आलू से मतलब था और वह उन्हें इफरात में हासिल था। प्राचार्य ने मुझे बुला भेजा। पढ़ाई की किसी को चिन्ता नहीं थी, सब मेरे लिए चिन्तित थे, काश मैं, मैं न होकर देश होता तो इस देश का ज़रूर उद्धार हो जाता। प्राचार्य ने चिन्ता ज़ाहिर की "आप नए आए हैं, आप जब से आए हैं, मुझे आप ही की चिन्ता है। इन लोगों ने सारा माहौल गंदा कर रखा है। एक यादव है, लड़कों को सर चढ़ा रखा है, और त्रिपाठी महाकौशल के हैं तो समझते हैं कि डी.एस.ई. जैसे उनकी जेब में हैं। महाकौशल वाले वैसे होते ही उजड्ड हैं। मैं तो चाहता नहीं, वरना किसके काले-पीले मुझसे छुपे हैं, पर सोचता हूँ बाल-बच्चेदार हैं और सच पूछिए तो, मेरी आदत नहीं किसी का बुरा करने की।" चपरासी बीच में झाँक गया, प्राचार्य ने बुरा-सा मुँह बनाया और कुछ बुड़बुड़ाये भी, जो मुझे समझ नहीं आया। घण्टी बजने तक उन्होंने मुझे नहीं छोड़ा। सारा दिन इसी चकल्लस में निकल गया। मैंने आदर्शवादजी से कहा 'आलू पढ़ाओगे यहाँ?'

गुट-पर-गुट थे, गुटों की गोटें थीं, गोटों की चालें थीं, पूरा स्कूल एक शतरंज था। ज़िन्दा मोहरों का शतरंज। काश! मैं अकबर होता, इतिहास में लिखा जाता कि मैंने ज़िन्दा मोहरों का शतरंज खेला। छात्र, मास्टरों के मोहरे थे, वे गुटों के हिसाब से बँटे हुए थे। उनकी एक ही शिकायत थी, एक विषय में उनके नम्बर अच्छे आते तो दूसरे विषय का मास्टर उनका डिवीज़न बिगाड़ देता। स्कूल ही नहीं, बाज़ार की दूकानें भी बँटी हुई थीं। प्राचार्य जिस दूकान पर बैठते, उस पर त्रिपाठीजी नहीं चढ़ते, जिस पर त्रिपाठी की बैठक थी वहाँ यादव नहीं जाता। फज़ीहत लड़कों की होती। केशव के घर-दूकान पर सबका आना-जाना था, जाने का वक्त सबका अलग-अलग था, पर जाते सब थे। उसके चाचा इलाके की काँग्रेस के नेता थे, और पिता गाँव के सबसे बड़े व्यापारी थे। एक दिन उसने मुझसे पूछा "सर, आप किस गुट में हैं?" मैंने कहा, "चौथे में।" वह समझ गया मैं टाल रहा हूँ, सो वह भी टाल गया, टालमटोल में बात टल गई।

* * *

ढाबा एक ही था, और बाहर की सड़क पर था। खाना मैं वहीं खाता था। एक सब्ज़ी बनती थी, क्योंकि ढाबा उन किसानों से चलता था जो बाज़ार करने आते थे, इसलिए सब्ज़ी में मिर्च तेज़ होती। मैं मन मारकर कभी प्याज़ और नमक से रोटी खाता, कभी एक आलू उबलवा लेता। सप्ताह में दो दिन हाट लगता, उस दिन तेल की पूरियाँ बनतीं और सब्ज़ी में मिर्च और तेज़ हो जाती। ढाबे वाले लाला को बतरस का रोग था। ढाबे में मेरी जानकारी में काफी इज़ाफा हो गया था। लाला प्राचार्य से कुढ़ा हुआ था। वे हर साल स्कूल के अहाते में उगी घास बेचते थे। स्कूल के खाते का इससे कुछ लेना-देना नहीं था। इस बार की घास चाय वाले किशोरी ने पचास बढ़ाकर, छह सौ में खरीद ली थी। लाला इसी से ठना बैठा था। वह बहुत-सी बातें बताता, कि 'बड़े बाबू की बीवी और प्राचार्य में आँख-मटक्का है।' 'संस्कृत वाले पण्डितजी नौकर को भेजकर फीचर खेलते हैं, और लड़कों के ज़रिए डोरिए खरीदकर इन्दौर जाकर बेच आते हैं, कि शनिवार-इतवार वे कभी गाँव में नहीं रहते।' ऐसी ही बहुत सारी जानकारी उसने मुझे दी थी। स्कूल सारे गाँव का रंगमंच बना हुआ था। ज़मींदारी का पेंदा खिसक चुका था। छोटे धन्धे वाले और नौकरी-पेशा लोग काश्त-कारी में घुस आए थे, एक नया वर्ग पनप रहा था।

घूमते-घूमते एक दिन मैं खेतों की ओर निकल गया। मौसम मज़ेदार था, बुवाई चल रही थी। मिट्टी भुरभुरा ली गई थी। सारे खेतों के कपाल त्योरियों से भरे थे। पुराने आलुओं से निकाली गई सैकड़ों आँखों का ढेर लगा था, इतनी आँखें कि इन्द्र के बाप को भी जितनी नसीब न हुई होंगी। आलू मज़ेदार चीज़ था, आँखों

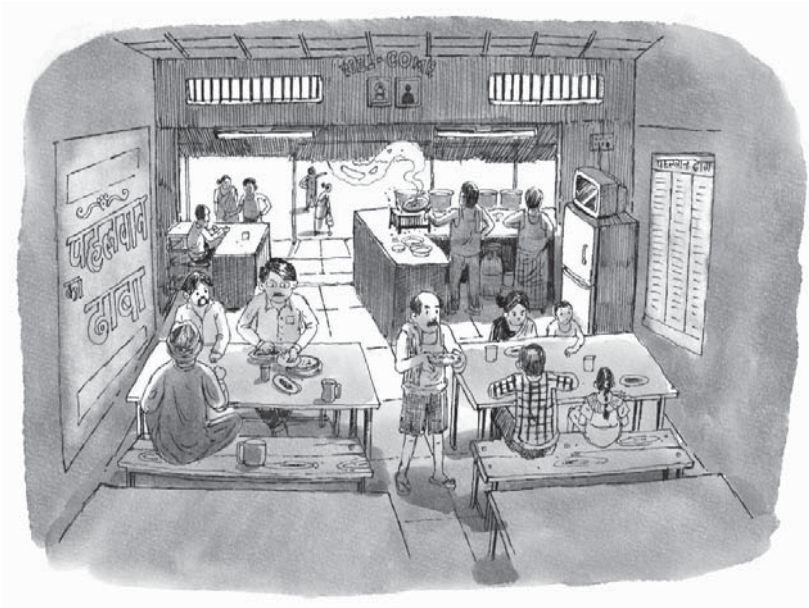

से पैदा होने वाली चीज़! अपनी ही आँख का तारा! उस रात मैंने एक सपना देखा, पृथ्वी के बराबर एक विराट आलू रस्सों से बाँधकर चारों ओर से खींचा जा रहा था। एक रस्सा प्राचार्य का गुट पकड़े था, दूसरा त्रिपाठी का गुट और तीसरा यादव का गुट। खींचतान हो रही थी। आलू की सैकड़ों आँखों से छात्र झाँक रहे थे, और गर्दनें निकाल-निकाल कर चिल्ला रहे थे 'खींचिए सर... खींचिए... ज़ोर-से...हाँ और ज़ोर-से...।' तभी मुझे लगा, मेरा दम घुट रहा है, आलू मेरी ही छाती पर घूम रहा था, गोल-गोल। मैंने चीखना चाहा, पर घिग्घी बन्ध गई, आवाज़ ही नहीं निकली।

* * *

कोहरा छाया हुआ था। नींद देर से खुली, इसलिए स्कूल भी देर से पहुँचा। स्कूल में हड़कम्प मचा हुआ था। माताराम चपरासी और प्राचार्य के बीच झगड़ा हुआ था। सब दूर उसी की चर्चा थी। घटना क्या हुई, कोई नहीं बता रहा था। सिर्फ माताराम के जुमले दोहराए जा रहे थे। 'तुम्हारे बाप के नौकर नहीं हैं। सरकारी मुलाज़िम हैं।' या 'तुम्हारा सारा काला-पीला ढाँकें और हमीं को आँखें तरेरते हो'। प्राचार्य विरोधियों के लिए माताराम अचानक ही हीरो हो गया था। यादव बेहद खुश था, कि प्राचार्य का अपमान हुआ। वह खेल के सामान की खरीद के गोलमाल में फँसा हुआ था। सामान नहीं आया था, सिर्फ रसीदें आई थीं और मौका पाते ही

प्राचार्य ने यादव को पटखनी दे मारी थी। वह तभी से ताक में था कि मौका मिले और वह अपना हिसाब पूरा करे। एक मौका हाथ आते-आते फिसल गया था। प्राचार्य के यहाँ कथा थी, उसने एकाउन्टेन्ट से मिलकर फीस के रुपयों में से कुछ माल निकालना चाहा था, तय था कि अगले महीने पूरा कर देंगे। पर इसी बीच दोनों में चिकचिक हो गई, सब को खबर लग गई, पर रुपये तब तक निकले नहीं थे। इसी से यादव उस बार गच्चा खा गया।

स्कूल कहने को तो नया था पर प्रयोगशालाओं की हालत काफी खस्ता थी। गिनती की चार डिसेक्शन ट्रे थीं, जिनके भी मोम उखड़ चुके थे। न क्लोरोफॉर्म था, न मेंढक थे। किसी लड़के ने आज तक मेंढक नहीं काटा था। मेंढक ज़रूर प्राचार्य से खुश होंगे। ग्यारहवीं क्लास में एक इकलौती लड़की थी, नाम तो पद्मावती था, पर मेंढक चीरने के नाम पर ही उसे उबकाइयाँ आने लगतीं। ये लोग क्या खाक बायोलॉजी पढ़ेंगे। मैं मन-ही-मन कहता, 'आलू काटो आलू, मेंढक काटना तुम्हारे बस की बात नहीं!' कई बार मैं प्राचार्य से कह चुका था, कि सामान मँगाना पड़ेगा। वे हर बार 'हाँ-हाँ' करते और भूल जाते। यादव ने कहा, "तुम उसे बता दो, उसे कितना हिस्सा मिलेगा, वह आज ही मँगा देगा।" मैं भरा बैठा था, मैंने कहा, "जो मेंढक आएँगे, उनमें से दस-पाँच का अचार डलवाकर मैं प्राचार्य को भेज दूँगा।" "प्राचार्यन उसे घर से निकाल देगी," कहकर वह ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगा।

सुबह से ही सर भन्ना रहा था। पैसे एकदम खत्म हो गए थे। सारा गुस्सा लड़कों पर फूट पड़ा। क्लास में घुसते ही मैंने ताबड़तोड़ कई सारे प्रश्न लड़कों से पूछ डाले। किसी से उत्तर नहीं बना। मैं बिफर गया। लड़के सहम गए, वे मेरा गुस्सा पहली बार देख रहे थे। मैं चीखा, "तुम लोग ज़िन्दगीभर पास नहीं हो सकते, अगर कल से पढ़कर नहीं आओगे तो किसी को क्लास में नहीं घुसने दूँगा।" लड़के चुप्पी साधे बैठे रहे। झुँझलाता हुआ मैं घण्टा बजने से पहले ही बाहर आ गया। आदर्शवादजी ने ऊँट-सी गर्दन उठाकर कहा, 'कहिए मास्साब, खिसक गई हवा?' क्लास से बाहर आया ही था कि यादव ने पीछे से कन्धा थपथपाया, "अच्छा ताना तुमने, तानते रहो ऐसे ही दो-चार दिन, फिर देखो ट्यूशंस का ढेर लग जाएगा।" बेहद तेज़ गुस्सा आया, 'सबको साले अपने जैसा ही समझते हैं, मुझे नहीं चाहिए ट्यूशंस।' मैं चीखना चाहता था, पर कह कुछ नहीं पाया, वही बोलता रहा, "यहाँ के दूकानदार और पटेल एकदम झक्की हैं, सनक है सालों को कि लड़का किसी तरह दसवीं हो जाए। अपने बाप का क्या जाता है, सबके पास दो नम्बर की रकम है, इम्तहान के बाद

देखना कैसी लाइन लगी रहती है, पैसा लो नम्बर बढ़ाओ, मास्टरों का चेत तो तभी कटता है।" मैं मन-ही-मन कुढ़ रहा था। मैंने फिर भी कहा, "ऐसे पास होने से लेकिन क्या फायदा?" वह चिढ़ गया, 'फायदे को मारो गोली। हमने कोई ठेका लिया है, किसे फिक्र है इस बात की? पैसा चाहिए सबको पार्टनर, मास्टरों को मिलता ही क्या है?" उससे तर्क करना मेरे बस का रोग नहीं था। जैसे-तैसे मैंने अपना पिण्ड छुड़ाया और चल दिया।

दो-चार दिन दिमाग पर मन्दी का दौरा रहा।

उज्जैन हो आने की इच्छा कुलाँचें मार रही थी। एक दोस्त की चिट्ठी आई थी, कि उपकुलपति के खिलाफ आन्दोलन होने वाला है। आग सुलग चुकी है, कभी भी विस्फोट हो सकता है। सब कमर कसे बैठे हैं। मुझे लगा, वहाँ जंग छिड़ने को है और यहाँ मैं टुच्ची झड़पों में फँसा हूँ। आदर्शवादजी मौका मिलते ही दिमाग में दण्ड पेलने लगते। बर्दाश्त से जब बाहर हो गया तो एक दिन मैंने आदर्शवादजी की गरदन मरोड़कर उनके घुटनों में डाल दी। किस्सा-खतम-माल-हज़म।

शाम शानदार थी, मैंने केशव को पकड़ा और उससे एक पव्वा ले आया। दूसरे दिन यादव ने मिलते ही एक तिरछी मुस्कान मारी, मैं थोड़ा खिसिया गया। याने खबर लग गई लोगों को।

* * *

स्कूल के साथ ही एक मिडिल स्कूल और था। प्राचार्य उसकी हेडमास्टरी भी सम्भाले हुए थे। उन्हें पैसा मिले तो वे पूरे राष्ट्र की शिक्षा का भार अपने कन्धों पर उठा लें। अभी मुझे आए आठ-दस दिन ही हुए थे। प्राचार्य ने एक दिन प्रस्ताव रखा कि "आप अगर मिडिल स्कूल का काम सम्भाल लें तो इधर हम दो पीरियड फ्री कर देंगे। करना-धरना कुछ नहीं है।" उन्होंने समझाया, "सिर्फ सुबह आकर राउण्ड लगा लें, और मास्टरों की ड्यूटी लगा दें, बस्स।" मैं शायद तैयार हो जाता पर यादव ने बताया कि प्राचार्य को इस काम का अलग से साठ रुपए एलाउन्स मिलता है। और वह तकरीबन हर मास्टर से इस बारे में बात कर चुका है। प्राचार्य दो-तीन दिन मेरे जवाब का इन्तज़ार करते रहे और मैं उनसे कटता रहा। लेकिन एक दिन उन्होंने बुला भेजा, छूटते ही बोले,

— तो कल से आप देख लीजिए मिडिल स्कूल का काम!

— मुझसे नहीं होगा, मैं सुबह देर से उठता हूँ (बाद का वाक्य मैं नहीं बोलना चाहता था पर निकल गया)।

— क्या तकलीफ है आपको? आप अभी जवान आदमी हैं, सुबह-सुबह आपका घूमना-फिरना भी हो जाएगा। (वे हँसने लगे)

— अगर एलाउन्स मिले तो मैं आ

सकता हूँ। (मैं एक ही साँस में बोल गया और अन्दर-ही-अन्दर एक खुशी और खीज से भर गया)

उन्होंने लम्बी-सी 'हूँ' की और चुप। चुप्पी तन गई।

मैं समझ गया कि ठन गई।

छुट्टी की घण्टी बजती, इससे पहले ही ठनठनाता आदेश आया। "बागवानी का एक पीरियड और बढ़ गया।" सबके भेजों में अगर बगीचे न लगवा दिए तो मेरा भी नाम नहीं। प्राचार्य खिसक लिया था। ज़बान पर चण्डी सवार थी। कोई हत्थे नहीं लगा, तो कमरे पर पहुँचते ही मट्टू को खत लिखा। प्राचार्य के सम्मान में जी भरकर गालियाँ लिखीं और लिख दिया कि अब इस नौकरी का भरोसा नहीं। मैंने सोचा, मास्टरी पर एक नीति कथा लिखूँगा, अन्त में लिखूँगा एक नीति वाक्य कि इस कथा से सीख लो, अगर मास्टरी करना है, तो धूर्त और काईयाँ बनो, वरना शिक्षा के क्षेत्र में घुसे बैठे आलू के व्यापारी तुम्हें आलू की टिकिया बनाकर, चाट की तरह खा जाएँगे।

* * *

दूसरा दिन। सुबह की हवा ने मेरी अकल के सारे रोशनदान खोल दिए थे। मैं प्राचार्य की तख्ती को घूरते हुए, अन्दर घुसा। (सावधान! अधम प्राणी, तेरा अन्तकाल आ पहुँचा।)

— मुझे फावड़े-गेंती चाहिए।

— क्यों-क्यों, फावड़े-गेंती का क्या कीजिएगा? (वे अचकचा गए)

— बागवानी कराऊँगा, मैदान में बहुत जगह है, सारी घास खुदवा देंगे (और खोद डालूँगा तुम्हारी आमदनी का ज़रिया)।

— क्यों चक्कर में पड़ते हैं आप? थोड़ा-बहुत किताब से पढ़ा दीजिएगा, बाग-वाग की कौन देख-रेख करेगा, छुट्टियाँ होने वाली हैं। खाद-पानी, सौ चकल्लसें हैं (प्राचार्य की हवाइयाँ उड़ने लगीं, मेरे अन्दर का मास्टर चिल्लाया, यही मौका है, अड़ जाओ, मैं अड़ गया)।

— सब हो जाएगा, आप फिक्र न करें, स्टूडेण्ट कर लेंगे।

— अरे मास्साब, फावड़े-गेंती कहाँ रखे हैं स्कूल में...। (वे पिण्ड छुड़ाना चाहते थे, उन्हें यह आशंका नहीं थी कि बात उल्टी गले पड़ जाएगी) आप तो किताब से पढ़ा दीजिए।

— नहीं, क्राफ्ट का मतलब ही फिर क्या हुआ? गाँव से मैं फावड़े-गेंती मँगवा लूँगा...

मैं कहकर निकल आया। मुझे सोच-सोच कर मज़ा आ रहा था। मैंने यादव को पकड़ा और किशोरी की दूकान पर चला गया। चाय पी, और चलते-चलते मैंने किशोरी को सुनाते हुए, यादव से कहा, "सोमवार से बागवानी शुरू करवाना है, सारी घास खुदवानी पड़ेगी, कहीं से फावड़े-गेंती का इन्तज़ाम करना है।" किशोरी ने सुना तो उसके कान खड़े हो गए।

उसके हाथों की बेचैनी साफ-साफ नज़र आ रही थी। दो दिन की छुट्टी थी, मन एकदम हल्का-हल्का हो गया। मैंने सोचा, लगे हाथ उज्जैन हो आऊँ, देख आऊँ, लोहा कितना गरम हुआ।

रात को उज्जैन पहुँच पाया, सारे शहर में कर्फ्यू लगा हुआ था। एकदम सन्नाटा था, सिर्फ ठलुए जगह-जगह घूम रहे थे। तो अण्डा फूट गया! 'हाँ'। गदर विश्वविद्यालय परिसर से शुरू हुआ था और शहीद पार्क पर भी छात्रों और पुलिस के बीच जमकर पत्थरबाज़ी हुई थी। पुलिस वाले हवा में अभी भी लट्ठ भाँजते घूम रहे थे। कई छात्र घायल हुए थे और कई जेल में थे। रास्ते में कई जगह पुलिस वालों ने मुझे रोका, बस का टिकिट दिखा-दिखा कर किसी तरह फ्रीगंज पहुँचा, सोचा था दो दिन ऐश करूँगा, पिक्चर और मटरगश्ती होगी। पर कुछ न हुआ। बस, तनाव तना रहा। वापस लौट रहा था तो इन्दौर बन्द था, आन्दोलन फैल रहा था।

घास मैं नहीं खुदवा पाया। मेरे पहुँचने से पहले प्राचार्य मेरी जड़ें खोद चुका था। इन्दौर जाकर वे मेरे तबादले का आदेश ले आए थे। उज्जैन से लौटते ही, मैं उलटा दिया गया। ऐन बीच महीने में मेरा तबादला हो गया। मेरे पास यूँ ही पैसे नहीं थे, कुछ लोगों का उधार भी चढ़ गया था, पर कोई चारा नहीं था। प्राचार्य विरोधी भी कन्नी काट रहे थे। मैं समझ गया, सबके पेंदे हिल गए हैं, मैं सबसे कमज़ोर कड़ी था, मुझे उलटाकर प्राचार्य ने फिलहाल अपने विरोधियों की हवा खिसका दी थी। लड़के मिलने आए, मैंने लड़कों से कहा, "रात कमरे पर आना, मैं कल जाऊँगा।"

मैं शाम से ही बेचैनी से लड़कों का इन्तज़ार कर रहा था। रात को अधिकांश लड़के आ गए, तो मुझे तसल्ली हुई। मैंने खूब बढ़ा-चढ़ा कर उन्हें उज्जैन के छात्र आन्दोलन के किस्से सुनाए। और लताड़ा कि तुम लोग आग के बगल में बैठकर चुप हो। उन्हें चढ़ाया, वे चढ़ गए। केशव तैयार हो गया तो सारे लड़के तैयार हो गए। उन्होंने कहा, "आप जैसा-जैसा बताएँगे, हम वैसा-वैसा कर लेंगे।" सारा कार्यक्रम तय हुआ। पर मेरे मन में अब भी बेचैनी थी, पता नहीं लड़के कल तक अपनी बात पर कायम रहेंगे या नहीं, पर अन्दर का मास्टर उछल-उछलकर चिल्ला रहा था- 'सावधान आलुओं! मैं तुम्हारी जड़ों में आग फूँककर जा रहा हूँ, अब पूरी दुनिया थुलथुलाती बादी से मुक्त होकर रहेगी'।

सुबह। हवा में हल्की थी, पर बढ़िया चमकीली धूप निकली थी। अपना सामान उठाकर, मैं पेड़ तक आ गया। सामान उतना ही था, जितना मैं लेकर आया था। बस खड़ी थी, वही मज़ेदार बस, जिसने पहली बार मुझे यहाँ पहुँचाया था। सीट इस

बार आराम-से मिल गई। कंडक्टर पास आया तो मैंने थोड़ी ऊँची आवाज़ में कहा, "एक देपालपुर।" कहकर मैंने कंडक्टर को देखा, पर उम्मीद के खिलाफ, वह अचानक हँस पड़ा। बस चल पड़ी। बाज़ार बन्द था। स्कूल के बाहर लड़के शोर कर रहे थे, नारे गूँज रहे थे। "विदा आलुओं, विदा आलू के पट्ठों!" मैंने खिड़की से झाँककर कहा।

एक ही दुख था, डोरिया नहीं खरीद पाया।

राजेश जोशी: हिन्दी के लेखक, कवि और नाटककार हैं। अपने कविता संग्रह *दो पंक्तियों के बीच* के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित। इसके अलावा मुक्तिबोध पुरस्कार, माखन लाल चतुर्वेदी पुरस्कार, श्रीकान्त वर्मा स्मृति सम्मान से नवाज़े जा चुके हैं। इनकी कविताएँ अँग्रेज़ी, रशियन, जर्मन, उर्दू और कई भारतीय भाषाओं में अनुवादित हो चुकी हैं। भोपाल में रहते हैं।

सभी चित्र: शुभम लखेरा: स्वतंत्र चित्रकार हैं। गवर्नमेंट फाइन आर्ट कॉलेज, ग्वालियर से पेंटिंग में स्नातक। रियाज़ अकादमी, भोपाल से इलस्ट्रेशन का कोर्स। पिछल 8 सालों से बाल पत्रिकाओं के लिए चित्रकारी कर रहे हैं। डकबिल, तूलिका, चाइल्ड फंड इंडिया, एनसीईआरटी, नवनीत, एकलव्य, एलएलएफ, रूम टू रीड जैसे कई प्रकाशनों के साथ काम किया है। फिलहाल, अपने शहर चंदेरी, म.प्र. में रह रहे हैं।